"अन्याय मूलक सुखी जीवन की सम्भावना का आधार है—कर्मवाद जिसे भारतीय परम्परा में अदृष्ट कहा गया है। समाज की दोषपूर्ण अर्थव्यवस्था को, लाखों करोड़ों के कष्टों को यह कह कर उपेक्षित कर देना कि वे उनके अदृष्ट—पिछले जन्मों का दुष्फल हैं और चन्द भ्रष्ट, व कुटिल शोषकों के—अन्याय को यह मानकर सहे जाना कि वे किसी पूर्वजन्म में धर्मात्मा रहे होंगे—तर्कशून्य अन्ध परम्परा है।"

यथास्थिति और दार्शनिक

डॉ० धीरेन्द्र

अनेक विद्वानों का मत है कि पूर्वी देश प्रमुखतया भारत के जन-जीवन की ऐतिहासिक शक्तियां यहां की धार्मिक परम्पराओं के जाल में इस तरह फंसी हैं कि इनके संस्कारों, जाति-बन्धनों और रूढ़ियों से निकल कर एक वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। विश्व के इतिहास और विज्ञान और तकनीक में बढ़े हुए देशों की स्थिति को देखने पर ऐसा नहीं मालूम देता कि किसी भी देश की रूढ़िवादी परम्पराएं प्रगति और विकास के चक्र को रोक सकेंगी। यथास्थिति और रूढ़िवाद के समर्थक, परिवर्तन और विकास का जितना ही विरोध करते हैं उतना ही विकास की गति को प्रोत्साहन मिलता है। भौतिकवादी वैज्ञानिक विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि भारत का रूढ़िवादी समाज भी धार्मिक संस्कारों और विश्वासों के आधार पर इतिहास के चक्र की गति को अधिक समय तक नहीं रोक सकेगा।

किसी भी देश के इतिहास की तरह भारत का अतीत भी ऐसी घटनाओं से भरा है जिन पर हमें गर्व भी हो सकता है और हम लज्जित भी हो सकते हैं। जहां एक ओर सभी जीवों में आत्मा की समता का ऊंचा सिद्धांत मिलता है वहीं पर जाति और कर्म के नाम पर ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है, जिसमें अन्याय, अत्याचार और अमानवीय व्यवहार को सराहा गया है। हमारे ब्राह्मणवाद ने श्रम-प्रधान जनता के अधिकारों को और उनकी मेहनत से कमाये धन को शहद की मक्खी के छत्तों से जैसे हम शहद लूटते हैं वैसे ही लूटा है। कला और संगीत की सुन्दरताओं को अन्यायपूर्ण सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था के भोंड़ेपन से दूषित किया गया है। लेकिन मानवतावाद के नाम पर देश के अनेक धार्मिक नेताओं और स्वयं महात्मा गांधी और विनोवा भावे सरीखे नेताओं ने यह तर्क किया है कि कर्म-सिद्धान्त के आधार पर थोड़े से भाग्यशाली रईसों को राष्ट्र की सम्पति का ट्रस्टी मान लिया जाना चाहिए। वरना करोड़ों लोगों को सभी सुख नहीं दिये जा सकते। इसमें कोई समझदारी नहीं है कि यदि समाज में महामारी फैली हो तो खुद डाक्टर भी उस बीमारी का शिकार हो। ऐसे तर्क आज के वैज्ञानिक और तकनीकी युग में झूठे सिद्ध होते हैं। जबकि हमारे गोदामों में पर्याप्त ऊनी कपड़ा मौजूद हो तो किसी गांधी या विनोबा को बिड़ला भवन में गरीबों की सहानुभूति में नंगे बदन रहने की जरूरत नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि जिस दिन गांधी जी ने भंगी बस्ती छोड़ कर बिड़ला भवन में निवास किया था भारत में गांधीवाद उसी दिन मर चुका था।

आज की वर्तमान स्थिति में जबकि पाषाणयुगी औजारों से चिथड़ों में लिपटी निरक्षर महिला गगनचुम्बी अट्टालिकाओं, बैंकों और परमाणु शक्ति के बड़े-बड़े संस्थानों का निर्माण करती हैं जबकि उसको यह भी पता नहीं होता कि इन भवनों से क्या लाभ होगा। उस महिला की सन्तति शायद ही कभी उन भवनों की देहली पर कदम रख पावेंगी। रविन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य साधना को देश के करोड़ों मजदूरों और किसानों ने शायद ही कभी पहचाना है। 'गरीबी हटाओ' के नारों से बनी सरकार के शाही भवनों के इर्द-गिर्द मानवता कराह रही है। लेकिन हमारे शासकों, शिक्षा अधिकारियों, समाज सुधारकों और देश के दार्शनिकों ने जन मानव की मुक्ति के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाये हैं। इसमें संदेह नहीं कि बड़े ऊंचे-ऊंचे सुधारात्मक कानून पास किये जा चुके हैं और देश की हालत पर दर्जनों रिसर्च निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। लेकिन आमूल-चूल परिवर्तन लाने के लिए सांस्कृतिक क्रांति का कोई भी रचनात्मक कदम नहीं उठाया जा सका। भारतीय संविधान में जाति धर्म और सैक्स में सभी नागरिकों को समान मानने का आग्रह है लेकिन स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में हमने एक नयी तरह की जाति-व्यवस्था को जन्म दिया है। फिर से हमारे नगरों की कालौनियां आमदनी के आधार पर बट गई हैं और अब हम अपने सामाजिक संबंध और अपनी उच्चता का दावा हमारे रहने की बस्तियों के आधार पर करते हैं न कि सामाजिक उपयोगिता और मानवीय गुणों के बल पर। अन्याय मूलक सुखी जीवन की सम्भावना का आधार है—कर्मवाद जिसे भारतीय परम्परा में अदृष्ट कहा गया है। समाज की दोषपूर्ण अर्थ व्यवस्था को, लाखों करोड़ों के दुःख कष्टों को यह कह कर उपेक्षित कर देना कि वे उनके अदृष्ट—पिछले जन्मों का दुष्फल है और चन्द भ्रष्ट, क्रूर व कुटल शोषकों के ऐय्याशी जीवन को यह मानकर सहे जाना कि वे किसी पूर्वजन्म में धर्मात्मा रहे होंगे—तर्क शून्य अंध परम्परा है। भौतिकवादी नैतिकता के समर्थक एपिक्यूरस (६०० ई. पू.) का कहना था : "जो जीवन विचार पूर्ण, सम्मान जनक और न्याय मूलक न हो उसे सुखी नहीं माना जा सकता।" क्योंकि वैसे "सुखी" अस्तित्व में अत्यधिक मानसिक कुण्ठाएं व ग्रंथियां होंगी जो स्वयं व्यक्ति व उसके समाज को देर-सबेर विषाक्त करती रहेंगी।

हम ऐसी व्यवस्था या जीवन को वास्तव में सुखी कहेंगे जिसमें विरासत में मिले प्रकाश, सुख और ज्ञान से अधिक ज्ञान व विकास अपने पीछे छोड़ते जायें। समाज में पीड़ा व अन्याय को यथासम्भव पहले से कम करते जावें। इस प्रकार भौतिकवादी नैतिकता के मानदण्ड में सुख व न्याय व्यवस्था की सीमाएं हमारे इह-लौकिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इसके परे अदृष्ट कर्म व अस्तित्व की कल्पना के आधार पर इहलोक में अन्याय की यथास्थिति को कायम रखना नहीं। परम्परावादी चिन्तन और धार्मिक परम्परा में यथास्थिति को बनाये रखकर न्याय व सुख की वास्तविकता किसी कल्पनाजन्य परलोक में स्वीकार कीजाती है। भौतिक नीति-शास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान यही है कि उसने कल्पनाजन्य स्वर्ग में प्राप्तव्य न्याय व्यवस्था की सम्भावनाओं को इस धरा पर और हर मनुष्य और आम जनता के लिये स्वीकार्य और व्यवहार्य सिद्ध कर दिया है।

अब बच्चे अपंग व विकृत मस्तिष्क किसी दैवी प्रकोप या कर्मफल से पैदा नहीं होते बल्कि उनका भौतिकी कारण होता है जिसे ज्ञान के आधार पर वैज्ञानिक तकनीक से सुधारा जा सकता है। परम्परावादियों का यह कथन कि—मनुष्य केवल रोटी के सहारे ही नहीं जीता-हेत्वाभास पर आधारित है। वास्तविकता तो यह है कि जीवन की कल्पनात्मक व कलात्मक विधाओं के विकास के लिये रोटी का संवल अनिवार्य है। और परम्परावादी यह भूल जाते हैं

"यदि शान्तिपूर्ण तरीकों से क्रान्तिकारी परिवर्तन संभव होता तो विश्व में बुद्ध, ईसा और गांधी के बाद मार्क्सवादी क्रान्ति की आवश्यकता न होती। और महाभारत में कृष्ण को अन्याय के उन्मूलन के लिए गान्डीव उठा लेने का उपदेश न देना होता।"

कि जिनके पास जरूरत से ज्यादा रोटी (वैभव) होती है वे भूले से ही कभी कला या आध्यात्म के चिन्तन की ओर मुड़ते हैं। हां, धार्मिकता का आडम्बर और बात है। इसीलिये बुद्ध बनने के लिये राजकुमार सिद्धार्थ को महलों के कैद खानों से भागना पड़ा था और ईसा ने घोषणा की थी कि रईसों का स्वर्ग में प्रवेश मुश्किल है।

अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या इतिहास स्वयं को दुहराता है? इसका उत्तर इतिहास की परिभाषा पर ही आधारित है। इतिहास का आधार मानव की रचनात्मक शक्ति है। जहां तक प्राकृतिक सिद्धांतों का सवाल है यह सही है कि बार-बार सूर्य का उदय होता है। लेकिन कोई भी दो परमाणु कण या दो चिन्तक मन, इतिहास की दो घटनाएं एकसी नहीं होतीं। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि इतिहास स्वयं को दुहराता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम भी उन गल्तियों को नहीं दुहरा सकते जो हमारे पूर्वजों ने की थीं। यह सम्भव है कि हम पश्चिमी सभ्यता के अंधानुकरण में वैसा ही राष्ट्रीय विनाश दुहराएं जो लन्दन, पैरिस, न्यूयार्क और टोकियों में हुआ है। दूसरी ओर क्योंकि हमारे पास रचनात्मक कल्पना और तर्क की शक्ति है जिससे हम उन गल्तियों को न दुहरा कर एक नये मनुष्य का निर्माण कर सकते हैं। फानन ने इसी का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'तीसरी दुनिया से मानव जाति यह उम्मीद करती है कि वे पश्चिम का अन्धानुकरण करके अपनी आत्म-हत्या न करें और विश्व इतिहास को वह दें जो यूरोप की संस्कृति नहीं दे सकी।'

हमारे देश के लिए काल की व्याख्या करना या इतिहास की परिभाषा देना आवश्यक नहीं है क्योंकि इतिहास की सीमाएं हमारे लिए कुछ सौ वर्षों से अधिक दूर नहीं जाती। मानव **जाति के इतिहास को कुछ हजार वर्षों से परे समझना हमारी क्षमता से परे है। फिर यदि काल अन्तहीन हो तो भी उससे मनुष्य की क्षमता और उसके इतिहास पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि इतिहास हमारी इच्छा-शक्ति की उपज है। इसलिए इतिहास का विश्लेषण हमारे लिए उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कार्लमार्क्स के शब्दों में इतिहास को बदलना हमारा दार्शनिक धर्म है।**

पिछले ३० वर्षों में भारत तथा अन्य विकासशील देशों में जो आर्थिक व राजनयिक घटनाएं घटी हैं उनसे दो बातें बड़ी स्पष्ट हो गई हैं :—एक तो यह कि पिछड़े हुए देशों को सामाजिक व राजनीतिक क्रान्तियों के द्वारा ही विकास की ओर ले जाया जा सकता है और दूसरे यह कि किसी भी सफल सामाजिक परिवर्तन के लिए सुधारवादी प्रजातान्त्रिक तरीके सर्वथा बेकार सिद्ध हो चुके हैं। "तीसरी दुनिया" के देशों, चाहे वे एशिया, अफ्रीका या लातिनी-अमरीका में हो आर्थिक व सामाजिक पिछड़ापन इस सीमा तक असहनीय हो चुका है कि यथास्थिति की बात करना मानवीय से दृष्टि बिल्कुल ही विचार शून्य कहा जा सकता है। लेकिन सवाल यह है कि जब हम यथास्थिति को बदल देने की बात करते है तो क्या हमारा अभिप्राय सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना है या कि केवल सुधार की बात करना। दूसरे शब्दों में जब हम यथास्थिति को बदलना चाहते हैं तो क्या केवल सामाजिक सुधार लाना चाहते हैं या कि सामाजिक क्रान्ति। दार्शनिक प्रश्न यह है कि जिन्हें यथा-

स्थिति को बदलने की चाहना है क्या वे क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ-साथ क्रान्तिकारी पद्धति को भी स्वीकार करते हैं या नहीं। और शायद यह अतिप्रसंग न हो कि हम क्रान्ति शब्द के साथ जुड़ी अनेक भ्रान्तियों पर विचार करें। सुधार और क्रान्ति के अन्तर और इन पद्धतियों के विभेद को भी समझना होगा।

समाज व राजनीति शास्त्र से सम्बन्धित संज्ञाएं—सुधार, परिवर्तन, क्रान्तिकारी परिवर्तन, रक्त-क्रान्ति आदि ऐसे शब्द हैं जो हमारी संस्कारजन्य धारणाओं को अभिव्यक्ति देते हैं। उदाहरण के लिए गांधी जी की नीतियों को सद्भावना और आदर के साथ शान्तिवादी और क्रान्तिकारी दोनों ही तरह के विशेषणों से सम्बोधित किया जाता था। इसी तरह वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्र में सभी लोग क्रान्तिकारी विकास की बात करते हैं। किन्तु राजनीतिक व आर्थिक ढांचे को प्रगतिशील बनाने की जब बात की जाती है तो हमारे समाज के बहुसंख्यक लोगों को क्रान्तिकारी पद्धति का प्रयोग नकारात्मक मालूम देता है। वे लोग जो विज्ञान और तकनीकी में क्रान्तिकारी पद्धति का स्वागत करते हैं, आर्थिक व राजनयिक मामलों में क्रान्ति के स्थान पर सुधारात्मक पद्धति की वकालत करते हैं।

यथास्थिति को हटा देने के लिए केवल सरकार को उखाड़ फेंकना ही काफी नहीं होता। केवल सरकार बदलने से ही सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन नहीं हो जाते। १९४७ में ब्रिटिश साम्राज्य के हट जाने से निस्सन्देह भारत में राजनीतिक सत्ता का परिवर्तन हुआ, लेकिन इतने बड़े परिवर्तन के बावजूद मौलिक परिवर्तन नहीं हो पाये क्योंकि सरकारी व्यवस्था गोरे लोगों के हाथों से हट कर काले बाबूओं के हाथों में तो आई पर कानूनी व आर्थिक व्यवस्था और उससे भी अधिक देश व समाज के नियमों और मानदण्डों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सरकार की भाषा, सरकार के कानून और सरकारी व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रही।

अब प्रश्न यह है कि देश में सामाजिक व आर्थिक यथास्थिति को खत्म करने के लिए क्या सुधारवादी पद्धति से काम लिया जा सकता है, या कि क्रान्ति ही एक मात्र उपाय है? जहां तक कि सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तनों का सवाल है उन्हें शान्ति पूर्ण तरीकों से प्राप्त करना तर्क संगत तो है। लेकिन है वह सर्वथा असम्भव। उदाहरण के लिए स्वयं गांधीजी ने देश के विड़लाओं को राष्ट्र की सम्पत्ति का संरक्षक (ट्रस्टी) कहा था। लेकिन पिछले तीस वर्षों में ट्रस्टी की सम्पति बढ़ती गई और देश गरीब होता गया। कल्पना कीजिए कि किसी दैवी चमत्कार के कारण एक दिन देश के सभी नेताओं को अपने कर्तव्य का भान हो जाये और वे यह प्रतिज्ञा करलें कि अपने निहित स्वार्थों को छोड़कर राष्ट्र के निर्माण में लग जायेंगे। उनके आदर्श पर सरकारी बाबू, ठेकेदार, रईस, जमाखोर, मुनाफाखोर सभी यह प्रतिज्ञा ले लें कि वे राष्ट्र का हित सर्वोपरि मानेंगे। फलस्वरूप देश में सतयुग आ जाता है और न्याय पूर्ण आर्थिक व्यवस्था कायम हो जाती है। लोकसभा एकमत से निजी सम्पति और और औद्योगिक उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण कर डालती हैं। सारे राष्ट्र में हर्ष व उल्लास छा जाता है। अब बसें नियम से चल रही हैं, खाने पीने की चीजों में मिलावट बन्द हो गई है और अस्पतालों में दवाईयां मिलने लग गई हैं और बिना जाति या धर्म भेद के शिक्षा नौकरियां और मकान मुहैया होने लगे हैं। ऐसे परिवर्तन को हम शान्तिपूर्ण तरीके से किया गया क्रान्तिकारी परिवर्तन कह सकते हैं। निस्सन्देह इसे असम्भव तो नहीं कहा जा सकता लेकिन इसकी वास्तविकता केवल कल्पना जन्य है। यदि ऐसा सम्भव होता तो विश्व में बुद्ध, ईसा और गान्धी के बाद मार्क्सवादी क्रान्ति की आवश्यकता न होती। और महाभारत युद्ध में

कृष्ण को अन्याय के उन्मूलन के लिए गान्डीव उठा लेने का उपदेश न देना होता।

वर्तमान स्थिति में इन्दिरा गांधी के गरीबी हटाओ नारों के बावजूद, देश की आजादी के ३० सालों के बाद जहां लाखों-करोड़ों को २ जून खाना नसीब न हो, देश के लाखों बच्चों का भविष्य अन्धकारमय हो, जहां देश के नौ-जवान, स्त्री-पुरुषों को अमीरों की गन्दगी के ढेरों से चुग-चुग कर निर्वाह करना पड़ता हो "प्रजातन्त्र" को यदि अन्याय और अधर्म का ढांचा न कहा जाए तो वह और क्या है ?

दिल्ली की सरकार—पुलिस और फौजों की संगीनों के बूते पर खड़ी है और मन्त्रिगण राजनेता लाखों-करोड़ों के काले धन से खेल रहे हैं। जो कोई भूले से साहस करके व्यवस्था लाने की बात करता है—उसे 'नक्सलवादी' कह कर जेलों में ठूंस दिया जाता है या "मुठभेड़ों" में गोली से उड़ा दिया जाता है। राष्ट्रवाद व ठीक सुरक्षा के नाम पर सेना और गुरिल्ला-विरोधी सैनिक दस्तों का बजट शिक्षा व लोक कल्याण पर किये जाने वाले खर्च से १,००० गुना किया जा चुका है। मुठीभर काले बाजारियों के सुख के लिए हमारे करों की करोड़ों की लागत से 'एयरकन्डीशन' ट्रेनें चलाई जा रही हैं जबकि स्कूलों की कच्ची दीवारे ढह रही हैं। अध्यापकों को तनख्वाहें नहीं मिल रहीं और अस्पतालों में दवाईयां और गोदामों में दाना नहीं हैं। फिर भी इन्दिराजी का नारा है "जयहिन्द"। और काले झन्डों और अशान्ति को दबाने के लिए हमारे शासकों के पास है—बड़ी-बड़ी तोपें, टैंक स्टेनगेन। इन्दिरा व वर्तमान अर्थ-शासक व्यवस्था अब लोकमत पर स्थित न होकर काले पैसे व संगीनों पर टिकी है। और यह संकेत (प्रमाण) है कि यथास्थिति व "प्रजातन्त्र" हमारे बहुमत व आम जनता के हित में नहीं है। और जितना ही कोई शासन संगीनों और नृशंसता का सहारा लेता है उतना ही अधिक वह क्रान्तिकारी शक्तियों द्वारा पतन के नजदीक होता है।

वर्तमान सरकार वैधानिक दृष्टि से अवैधानिक है और संविधान के नियमों के अनुसार वह "गैर सरकार" है। संविधान के आधार पर लोकसभा के चुनाव में केवल ३० हजार रुपये खर्चे का नियम है और राज्य विधान सभाओं के चुनाव में १० हजार। हम सब यह जानते हैं कि नेहरू वंश की प्रिय दर्शनी प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी जब अपनी जनता से ऊंचे मंच पर बैठकर बात करती हैं तो सुनने वालों की तादात एक लाख से ५ लाख कूती जाती है। उनकी जन-सभाएं किस तरह आयोजित होती हैं, उनमें कितनी पुलिस और कितनी सरकारी एजेंसियां काम करती हैं उसके वर्णन में हम यहां नहीं जाना चाहते। किन्तु स्वर्गीय श्री नेहरू से लेकर इन्दिरा गांधी तक देश के सभी नेताओं ने अपने चुनावों पर ५० हज़ार से ५ लाख रुपये प्रति व्यक्ति बड़ी आसानी से खर्च किये होंगे। लेकिन जान-बूझकर इन सभी नेताओं ने चुनाव आयोग के सामने झूठे बजट पेश किये हैं जिनमें अपने चुनावों का खर्च निर्धारित राशि से कम दिखाया है। इस तरह इन सभी गांधीवादी नेताओं ने गैर कानूनी ढंग से चुनाव जीते हैं। संवैधानिक दृष्टि से इसलिए यह "गैर सरकार" है जिसकी सत्ता अवैधानिक है और इसलिए इसका अस्तित्व अधार्मिक है। अतः इनको उखाड़ फेंकना सर्वथा वैधानिक, न्याय-संगत और धर्मकार्य माना जाना चाहिये।

लेकिन क्या केवल सरकार बदलने से ही देश में सामाजिक व आर्थिक क्रान्तिकारी परिवर्तन सम्भव हो सकता है इसमें सन्देह है। **हमारे विचारकों के सामने आज सबसे प्रमुख समस्या यह है कि किस प्रकार कम से कम समय में सामाजिक-आर्थिक-राजनयिक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये जा सकें।** अभी तक राजनयिक व आदर्शों की दृष्टि से विदेशों की राजधानियों से हमें पथ प्रदर्शन मिलता रहा, लेकिन अब समय आ चुका है कि हम दूसरों से

सहयोग लेकर भी क्रान्तिकारी परिवर्तनों को लाने में अपनी स्थिति को सामने रखते हुए अपनी ही नीति की स्थापना करें। यह स्पष्ट हो चुका है कि आज यथास्थिति को बनाये रखने की बात करना अधार्मिक है। यथास्थिति को तो मिटाना ही होगा और यदि शान्ति पूर्ण तरीकों से वह सम्भव न हो तो फिर किन्हीं भी तरीकों से सम्भव बनाना होगा।

- ○ जिस आर्थिक-राजनयिक व्यवस्था में करोड़ों लोग सिसक-सिसक कर दम तोड़ देते हों;
- ○ जहां प्रति वर्ष लाखों बच्चों के दिमाग बचपन से ही विटामिनों की कमी के कारण विकृत हो जाते हों;
- ○ जहां भोजन व चिकित्सा के अभाव में प्रति वर्ष लाखों बच्चे अंधे, बहरे व अपाहिज हो जाते हों;
- ○ जहां ३३ करोड़ से अधिक जनता भूखी व बेकार हो वह व्यवस्था "अव्यवस्था" है, वह कानून "गैर कानून" है।और जो ५% लोग संगीनों के बल पर इसे बनाये रखना चाहते हैं वे रक्षक नहीं "भक्षक" हैं। इसके विपरीत क्रान्तिकारी बिना स्वार्थ के हानि, लाभ या द्वेष भावना के न्याय व सत्य की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहता है। उसे निजी लाभ की तृष्णा नहीं होती। तो मेरा सवाल है "गैरव्यवस्था" के ठेकेदारों से : इस हत्यारी अन्याय-मूलक व्यवस्था के नीचे दबे लाखों-करोड़ों की मुक्ति के लिए तुम्हारे पास क्या है ? इस नृशंस क्रूर और हत्यारी व्यवस्था के हिंसात्मक हथकण्डों का हमराही दार्शनिक तो नहीं हो सकता। हमें तो उनके साथ चलना होगा जो हिंसक, भ्रष्ट एवम् क्रूर व्यवस्था के खिलाफ संघर्षरत हैं। □

वर्गीकृत विज्ञापन

ज़रूरत है। एक ऐसी दुनिया की
जिसमें इजारेदार न हों।
पुलिस भी न हो
एशिया, अफ्रीका में
या लातीनी अमरीका में
किसी से भी पूछ लो ॥

क्यूबा के कवि :
डेविड फर्नान्डेज चेरीसीयान
(जन्म : १९४०)

रूपान्तर : नरेश कुमार